

# प्रथा, परंपरा और रूढ़ि : समीक्षा जरूरी है



मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और साथ ही साथ बुद्धि और विवेक संपन्न भी।

मनुष्य अपने जीवन काल में अनेक ऐसे कर्म करता है जो पशुओं की भांति सिर्फ शारीरिक तृप्ति तक सीमित नहीं होते हैं।

मनुष्य जब स्व विवेक से कोई नूतन कार्य करता है जो उस समय, काल, वातावरण और उसके सामर्थ्य के अनुकूल होता है और प्रशंसनीय भी तब अन्य लोग भी उस कार्य का अनुसरण करने लगते हैं और यह कालान्तर में प्रथा का रूप धारण कर लेता है और इनकी समय समय पर पुनरावृत्ति होने लगती है।

“महाजन येन गतः सः पन्था”

की सूक्ति को चरितार्थ करते हुए यह प्रथा समय के साथ कब परंपरा बन जाती है पता ही नहीं लगता है।

“कर्म” का “प्रथा” और प्रथा से “परंपरा” तक का रूपान्तर काल बहुधा सामयिक होता है अतः प्रचलन में ग्राह्य रहता है। समस्या तब आती है जब ये प्रथा और परंपरा अपना समय पूरा कर औचित्य हीन हो जाती है किन्तु फिर भी इनका प्रचलन समाज में विद्य रहता है।

“परंपरा” की भी एक आयु होती है, समय होता है और जो परंपरा या प्रथा अपनी आयु पूर्ण कर चुकी होती है वह “रूढ़ि” हो जाती है। परंपरा बहुधा जीवंत होती है, सामयिक भी अतः प्रचलन में मान्य भी किन्तु रूढ़ि निर्जीव होती है, मृत होती है और इसलिए त्याज्य होती है।

किन्तु विडम्बना यह है कि मृत स्वरूपा रूढ़ियों को भी बुराई भलाई के डर के कारण मनुष्य परंपरा मानकर अनिच्छा पूर्वक ही सही किन्तु ढोये जाता है और यह अन्य मनस्कता की चिंगारी ही धीरे धीरे विद्रोह में तबदील हो जाती है और नई पीढ़ी इन मृत हो चुकी परम्पराओं को (जिन्हें मैं रूढ़ी ही कहूँगा) त्याग देती है, अनुगमन नहीं करती है।

“प्रथा”, “परम्परा” और “रूढ़ियो”की समय समय पर समीक्षा होनी चाहिए और यह धर्म गुरुओं और सामाजिक संस्थाओं की संयुक्त जिम्मेदारी है किन्तु ये दोनों ही (धार्मिक और सामाजिक) प्रतिष्ठान अपने दायित्व का निर्वहन नहीं करते हैं और दोष नई पीढ़ी पर डाल अपने कर्तव्य की इति श्री मान लेते हैं जो किसी भी द्रष्टि से उचित नहीं है, ऐसा मेरा मानना है।